

संपादकीय

दिनेश सिंह

गीत अंक-1 के बाद गीत अंक-2 आपके हाथों में है। 'नये-पुराने' के गीत अंक-1 की समन्वित काव्य-परक विचारधारा का लगभग हर ओर से जैसा स्वागत हुआ और उसे जैसी स्वीकृति मिली उससे गीत अंक-2 के प्रकाशन को बड़ा बल मिला। देश के अनेक नगरों में जिस तरह गीत अंक-1 पर चर्चा-परिचर्चा गोष्ठियां आयोजित की गयी और इसी बहाने गीत पर सार्थक बातचीत भी हो सकी उससे अंक के प्रकाशन की सोद्देश्यता को प्रमाणिकता मिली और गीत की लोक संपृक्ति का चेहरा कुछ अधिक दीप्त होकर सामने आया।

नये-पुराने का मानना है कि एक संपादक में सामूहिक विचारधारा का प्रवाह होता है जो विभिन्न विचारों में अंतर्विरोधात्मक द्वन्द्व के बाद निष्कर्षित होकर पाठक के समक्ष रेखांकित होता है इस नाते 'नये-पुराने' का अपना कोई निजी हठ नहीं है। गीत के उस स्वरूप की जिसकी पक्षधरता 'नये-पुराने' करता है वह देशकाल की ही स्वीकारोक्ति है। संगुफित विचारों के पारस्परिक द्वन्द्व से उपजी यह स्वीकारोक्ति अपने संश्लिष्ट स्वरूप के कारण वैयक्तिक तो नहीं ही मानी जानी चाहिए शायद इसीलिए गीत अंक-1 में रेखांकित गीतपरक वैचारिकता को प्रायः हर ओर से आत्मीय स्वीकृति मिल सकी है।

यों तो गीत का वैशिष्ट्य अन्य काव्य विधाओं की अपेक्षा आज के बेसुरे कविता-समय में अपने शेष रागबोध तथा अपनी लय संपृक्ति के कारण स्वयं प्रमाणित हो जाता है पर उसकी विशिष्टता इस अर्थ में भी प्रमाणिक मानी जा सकती है कि वह जड़ दृश्योपकरणों को भी अभिव्यक्ति के सापेक्ष सक्रिय संकेतों में बदलकर अर्थ का संधान करता है—जहाँ समकालीनता हर जगह ठोस अर्थ खोजने की जद्दोजहद में ही परिभाषित होती है। इस संदर्भ में यह तथ्य भी प्रासंगिक है कि गीत अपनी विशिष्ट लयता के कारण ही काव्य की अन्य विधाओं के बीच अपनी विशिष्ट पहचान रखता है। गीत की लयता अभिव्यक्ति की त्वरा के साथ फूटती है और इसी आवेग में गीत की संपूर्णता तक ढलती रहती है। आवेग के शिथिल होने पर लय खुद-ब-खुद टूट जाती है। चूँकि भावबोध भी विखंडित हो जाता है या विखर जाता है। लय गीत का वह तना हुआ नाजुक सूत्र है जिसमें स्वयं को पिरोकर ही गीत को अपनी पूर्ण अन्विति तक गुजरना होता है। कविता के अन्य रूपों में उनकी इयत्ता की स्थिति इतनी जटिल और नाजुक नहीं होती। उन सब की शास्त्रीयता में सूत्र भी हैं, संकेत भी और स्वतंत्र उतार-चढ़ाव भी। वहाँ सब स्वेटर सा बुनना होता है, चाहे शास्त्रीय छन्द हों या छन्दमुक्त कविता। नयी कविता (छन्दमुक्त कविता) तो अपनी रचना प्रक्रिया के दौरान अपने स्थापित मूल्यों-प्रतिमानों को देखती चलती है अतः वह लय की अवधारणा के संबंध में बहिर्मुखी है—इसीलिए वह अपने से बाहर अर्थ की लय की भी चिन्ता करती है पर गीत अपनी रचना प्रक्रिया के दौरान भी अपने भीतर अपने राग और अपनी लय से बँधा चलता है। गीत में एक विशेषता और भी है कि गीत के माध्यम में शिल्पसूत्र की सृजनात्मक दृष्टि के सहारे नयी कविता, छन्दमुक्त कविता के कथ्य और उसी संवेदना तक जाया जा सकता है बस लय और शिल्प (छंद) में थोड़ी सी अतिरिक्त प्रयोगपरकता वांछनीय होगी जैसा कि गीत के अधुनातन रूप (नवगीत) में यहाँ-वहाँ कर्मावेश देखने को मिलता है। किन्तु नयी कविता अपने स्थापित मूल्यों-प्रतिमानों से प्रतिबद्ध होने के कारण गीत के रागबोध से सर्वागत: नहीं बँध पाती है—बँधेगी भी तो कई जगहों से टूटन की दरारें स्पष्ट दिखाई पड़ती रहेंगी। सच तो यह है कि गीत की अनिवार्यता सभी अन्य काव्य अथवा काव्येतर विधाओं के लिए भी है क्योंकि गीत का रागबोध कथा, नाटक और औपन्यासिक लय से बहुत गहरे जुड़ा दिखाई पड़ने लगता है। रेणु, धर्मवीर भारती, रामदरश मिश्र, गोविन्द मिश्र, मालती शर्मा आदि के कथा साहित्य में जहाँ यह गीतपरक राग बजता है, जहाँ यह आत्मीय लय सधती है वहाँ कथ्य को नया आयाम मिलता है और संवाद प्राणवन्त होकर कथा की वैचारिकता से बोझिल हुये पाठक को सहज बनाकर कथा के अगले सूत्र को पकड़ने के लिए व्याकुल करता है—ऊर्जस्वित करता है। हाँ, गीत में उपदेशक भंगिमाएँ उसे राग और लय से दूर कर देती हैं, अतः ऐसी भंगिमाओं का दबाव डालते समय गीतकार को यह ध्यान अवश्य देना चाहिए कि वह गीत ही लिख रहा है—'गीता' नहीं।

यों तो प्रस्तुत अंक में गीत के सभी रूप-स्वरूप उभर कर सामने आये हैं और उस पर अच्छी चर्चा हो सके इसका प्रयास किया गया है फिर भी आज के चर्चित गीत का चेहरा जिसे नवगीत कहा जाता है अधिकाधिक उभारकर सामने रखने का प्रयास किया गया है। यों नवगीत की अवधारणा से लेकर उसकी प्रवृत्तियों तथा शिल्प आदि तक को काफी विवाद का विषय बनाया गया है और अधिकतर यह विवाद नवगीतकारों और नवगीत के समीक्षकों द्वारा ही आत्मप्रतिष्ठा को केन्द्र में रखकर पैदा किया गया लगता है। किसी विशिष्ट पक्षधरता का बल भी इस विवाद में कियाशील लगता है फिर भी मोटे तौर पर नवगीत को मौजूदा समय की अभिव्यक्ति का गीतपरक माध्यम ही कहा जाना चाहिए। जहाँ तक प्रवृत्तियों की बात है तो इतना स्पष्ट है कि नवगीत वह गीत है जो गीत के शिल्प विधान में ससमय सापेक्ष वैचारिकता का वहन करता है और कथ्य को अधिकाधिक यथार्थपरक

बनाता है। रागबोध स्तर पर नवगीत सधन वैचारिकता के दबाव में कहीं कहीं पारंपरिक लय से हटकर नयी लय और गूँज के साथ सामने आता है। अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त करने की लयात्मक ललक की परिणति रूप में नवगीत आज के संपूर्ण जीवन को खुरदुरे हाथों का स्नेहिल स्पर्श देता है। अपने समय के अरुचिपूर्ण संसार में एक प्रिय कोना पाने की छटपटाहट जहाँ नवगीत में दिखाई देती है वहीं विसंगतियों और विदूषताओं के प्रति उसकी तलखी नयी लय गढ़ती है और पारंपरिक छंदानुशासन से हटकर नये छंदों का आविष्कार भी करती है तथा एक खुरदुरी भाषा के प्रभाव से अनगढ़ता को भी अपनाती है पर यह अनगढ़ता भी अपनी कहन में कितनी लयात्मक हो सकती है यह नवगीतकार की गीत साधना और गीति-सामर्थ्य पर निर्भर करता है।

नवगीत की विषयवस्तु का विस्तार परंपरा से लेकर आधुनिकता के सारे प्रभावों तक है। वह एक ओर जहाँ वैयक्तिक को भी निर्वैयक्तिकता का रूप देकर उसे समाजीकृत करता है वहीं यथार्थबोध की अभिव्यक्ति में भी लोक-जगत की शब्दावलियों का उपयोग कर प्रतीकों व संकेतों के माध्यम से नये बिम्बों की सर्जना कर उसे अधिक द्रावक और मर्मस्पर्शी बनाता है और संप्रेषण की समस्या का सहज निदान खोजता है। आज की राजनैतिक मूल्यहीनता के संक्रामक प्रभाव से पल-पल बदलते हुए स्वार्थपरक रिश्तों व सामाजिक संघटकों में आये बिखराव व मानवीय रागात्मकता के टूटन की प्रक्रिया पर नवगीत की पैनी नजर है। भौतिकतावाद के दबाव से व्यक्ति और व्यक्ति के बीच बढ़ती हुयी दूरी और चुकते हुये स्नेहिल संबंधों के प्रति नवगीत की बेचैनी स्पष्ट रूप से महसूस की जा सकती है। यथार्थबोध की अभिव्यक्ति में भी नवगीत की बेचैनी स्पष्ट रूप से महसूस की जा सकती है। यथार्थबोध की अभिव्यक्ति में भी नवगीत चूँकि अपने उपकरण प्रायः प्रकृति और लोक जगत से उठाता है इसलिए वह अपनी जातीय अस्मिता को सुरक्षित रख पाने में अन्य काव्य विधाओं से बहुत आगे और विशिष्ट है।

नवगीत का राष्ट्र प्रेम पारंपरिक गीतों के राष्ट्रप्रेम से कुछ अलग हटकर व्याख्यायित होता है। देश के भौगोलिक परिवेश का गुणगान या मानचित्र पर अंकित भारत के रूपाकार (सीमाबद्ध संरचना) की यशवंदना की स्थूलता को गीत का विषय बनाने के मोह को त्यागकर उसकी माटी और उसमें रचे-बसे सामान्य जन के आचार-विचारों, परंपरा, इतिहास, धर्म और तदनुकूल इन सभी तत्वों से संगुणित संस्कृति के संरक्षण-संवर्धन की ललक ही नवगीत का राष्ट्रप्रेम या उसका राष्ट्रीय संदर्भ है। जाहिर है कि ऐसे में इस सांस्कृतिक चेतना के आड़े आने वाले या उसे कमजोर करने वाले वे सारे तत्व सामान्य जन की पीड़ा के रूप में खुद-ब-खुद नवगीत की विषयवस्तु बन जाते हैं, और इस रूप में नवगीत को भारतीय चिन्तन दर्शन की आधुनिक रचना धारा माना जा सकता है। युगों-युगों से तमाम आंकांताओं, विरोधी संस्कृतियों के दबावों तथा सभ्यता के नाम पर उद्भूत संकीर्ण भौतिक व बौद्धिक सोचों के घात-प्रतिघात के बावजूद भी अपनी अस्मिता को सुरक्षित रख पाने का तात्त्विक संघर्ष और अक्षुण्ण जिजीविषा की अखंडित चेतना को आत्मीय एवं चिरंतन बनाये रखना हमारी विशेषता रही है और शायद यही भारतीयता है जिसकी व्याप्ति गीत से नवगीत तक समय सापेक्ष चिन्तन के साथ सटीक संदर्भों में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। गीत के संदर्भ में ही नहीं, किसी भी विधा की सतत् रचना प्रक्रिया के निर्धारण में जो मूलभूत तत्व कारक बनते हैं, उसमें अपने 'निज' की पहचान का आग्रह स्वाभाविक रूप से अधिक तीव्र और सबल होता है। देशकाल के सभी संकेत, सोच, दिशाएँ, प्रभाव और अन्विति सब इसी पहचान में समाविष्ट होती है जिसे बाद में अध्येता, विद्वान और समीक्षक जरूरत पड़ने पर कस-धुनकर रेशा-रेशा अलग कर लेते हैं और समग्रता पर पड़ने वाले प्रभाव का आकलन-अध्ययन करके संदर्भित साहित्य में जातीय पहचान की प्रमाणिकता सिद्ध करते हैं।

पूर्व में गीत की पहुँच देशकाल की सीमाओं के पार भी रही है जिसे बाद में वैयक्तिकता, अतिकल्पनाशीलता, वायवीयता या भावुकता का अतिरेक मानकर सीमित करने का प्रयास किया गया। पर क्या यह वास्तव में वही है? क्या आत्मा के विस्तार के रूप में उसकी पहचान नहीं बनती? आध्यात्म के चिन्तन और दर्शन के पीछे जो सैद्धान्तिक आस्था है क्या वह इसी आयाम पर स्थित नहीं है? क्या वह जीव-जगत के संदर्भों से हटकर किसी अजाने व कपोल कल्पित लोक की अवधारणा का मात्र भ्रम ही है? क्या उससे भैतिक दबावों से श्लथ मानव मन को कोई श्रान्ति नहीं मिलती? उससे उसे खोयी आंतरिक ऊर्जा मिलने का विश्वास क्या कोरी बकवास ही है? भारतीयता का दर्प और उसकी पहचान क्या इसी आध्यात्मिक दर्शन के विस्तृत फलक पर अंकित नहीं है? वैज्ञानिकता के लिए भी क्या कल्पना पूर्णतया त्याज्य है? कल्पना ही क्या संकल्प और प्रयोगपरकता के बल पर उसके प्रतिफलन का बीजरूप नहीं है? इस प्रकार क्या वह भारतीय नैसर्गिक प्रगतिशीलता का उत्सव नहीं है? क्या प्रगति वहीं है जिसका मूल्य सिक्कों में आँका जा सके? क्या दृश्य ही केवल यथार्थ है? तो क्या अनुभव और अनुभूतियों की सूक्ष्म अदृश्य पीड़ा आत्मा में टीस नहीं पैदा करती? क्या दर्द केवल काँटों की नोक या तलवार की धार पर ही रहता है? इन सवालों के जबाब में जो कुछ मिलता है वह व्यक्ति और वैयक्तिकता को भी प्रमाणिकता प्रदान करता है और गीत के उस स्वरूप को जिसे पारंपरिक कहा जाता है उसकी भी प्रासंगिकता सिद्ध करता है। इसीलिए 'नये-पुराने' नवगीत को आधुनिकता के सोपान पर खड़ा हुआ गीत का सामयिक व्यक्तित्व मानता है जहाँ वैयक्तिकता को नये शिल्प विधान से सामाजिकता में रूपायित किया जाता है। अतः 'नये-पुराने' की सोच में जो वैयक्तिक है वहीं लोकोन्मुखी होकर सामाजिक हो जाता है। आगे चलकर इसी वैयक्तिकता को समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों, व्याख्याओं के निष्कर्ष के साथ विश्लेषणात्मक आधार पर जन-गण का हेतु बनाकर साहित्य के विभिन्न रूपों, विधाओं में स्थापित करने का प्रयास किया गया और उसे जनवाद का रूप दिया गया। जन का सांस्कृतिक पक्ष तो काव्य विधा के साथ अणु बीज की तरह विचारों, भावनाओं, कथ्य और वस्तु में इस प्रकार समाहित रहा है कि विधा विशेष की भाषा और उसका शिल्प भी संस्कृति की पारंपरिक विरासत या जन परंपराओं से समृद्ध हुआ। इस संदर्भ में प्रकृति से सन्निकटता स्थापित कर उसके विविध उपादान, स्वरूप और उसके कार्य व्यापार को उपकरण बनाकर, सांकेतिक अर्थों का उद्घाटन कर जनभावनाओं को आत्मीय

अभिव्यक्ति दी गयी। इससे जहाँ हमारी सांस्कृतिक चेतना को वैशिष्ट्य और बल मिला वहीं प्रकृति और व्यक्ति की एकात्मकता से नैसर्गिक मनोभावों को आधुनिक सोच के समक्ष रखकर विसंगतियों और विद्वेषताओं को मापने में सहायता भी मिली और यह सब नवगीत में बखूबी उभरकर अभिव्यक्त हुआ।

नवगीत के साथ कुछ विडम्बनाएँ भी हैं। जैसे छंदमुक्त कविता में छन्द के बन्धन टूटने से हर किसी को कविता की रचना ही आसान लगने लगी और इसके चलते उसमें हर स्तर पर प्रदूषण का रचाव होने लगा उसी तरह गीत-नवगीत में विविध शिल्प विधान, भाषिक संरचना और अधुनातन भंगिमाओं का बहाना-संदर्भ देकर एक अराजकता को जाने-अनजाने प्रश्रय दिया जाने लगा जो गीत के समग्र हित के लिए बहुत चिन्तनीय है। यह सच है कि इधर कुछ अधकचरे गीतकार एक बँधे-बँधाये फार्म को आविष्कृत कर उसी में कुछ ढालने लगे हैं और उसे नवगीत का नाम देकर एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न कर रहे हैं। वस्तुतः किसी साँचे में ढली हुयी रचना वास्तविक रचना नहीं होती क्योंकि उसकी संरचना से संवेदनात्मक वैचारिकता की कोई गंध तक नहीं आती और न ही वह सत्य के मर्म को अपनी भंगिमा से छू ही पाती है। कुछ भी लिखने, कहीं भी छपने और कैसे भी स्थापित होने की तृष्णा जो 'बीट' छोड़ जाती है उसे समीक्षकों को बहुत दिनों तक साफ करना पड़ता है। ये खतरे चूँकि कला साहित्य की हर विधा में बीच-बीच में खड़े हो जाते हैं अतः ऐसे में सही व तटस्थ समीक्षा कर्म को ही 'छड़ी बरदार' की भूमिका निभानी पड़ती है। गीत-नवगीत के संदर्भ में तो यह भूमिका गीत-नवगीतकार ही निभाएंगे क्योंकि काव्य की अन्य विधाएँ तो कमोवेश इनके विरोध में श्रमोत्सर्जन ही करती रहती है।

नवगीत की जहाँ बात है वहाँ घालमेल सबसे ज्यादा है छंदमुक्त कविता से भी ज्यादा क्योंकि गीत जगत में नवगीत एक 'फैशन' बनता जा रहा है। इस प्रकार इस घालमेल से उत्पन्न संकट छंदमुक्त कविता के संकट से बड़ा है क्योंकि यहाँ सही रचनाधर्मिता, संतुलित और निरपेक्ष वैचारिकता और उसके समीक्षा कर्म के मुँहाने पर कुछ कथित पुरोधा-महंत पालथी मारकर बैठे हैं। वे उसी बहाव व प्रवाह को बाहर आने देते हैं जिनके सुर उनके द्वारा छोड़े सुरों से मेल खाते हों या जिनके आग्रह उनके आग्रहों के समक्ष शिष्यानुगत हों। सर्वथा नयी व टटकी संवेदनाओं से भरे-पुरे तथा उपनगरों व गँवई गाँव में बैठे जो अनचीन्हे गीत-नवगीतकार बिना किसी महत्वाकांक्षा के केवल लिख रहे हैं वे अधिक ईमानदार व सत्यान्वेशी हो सकते हैं किन्तु वे महन्तों की पीठ के पीछे पड़ जाने के कारण कही दिखाई नहीं पड़ते। पंक्ति में खड़े होने की उनकी हर कोशिश बलात उन्हें यथास्थिति में बैठे रहने को मजबूर कर देती है और इस प्रकार सही रचनात्मकता सामने नहीं आ पाती। ये उल्लिखित महंत वे ही हैं जो प्रायः छोटे-बड़े नगरों-महानगरों में अपने कथित प्राध्यापकीय व्यक्तित्व के झंडे तले बाकायदा कविता के स्कूल चलाते हैं और अपने पांडित्य का ढिंढोरा अपने चेलों-चपाटों से पिटवाते रहते हैं। ऐसे में वे जाने-अनजाने एक सुगठित छतनार को झाड़-झंझाड़ में बदल देने की साजिश के रचयिता बन जाते हैं और नवगीत एक ईमानदार अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा में अमूर्त ही रह जाता है।

यदि गीतकारों के बीच से ही गीत के समीक्षक भी निकलते हैं तो आशा बँधती है कि समीक्षकर्म अधिक संतुलित, विश्लेषणात्मक व ग्राह्य होगा क्योंकि वे गीतकार गीत की रचना प्रक्रिया, उसके मानकों, अभिव्यक्ति की सूक्ष्म व अदृश्य सुरंगों-गवाक्षों से सुपरिचित होने के कारण अंतर्निहित तथ्यों तक आसानी से पहुँच सकते हैं पर ऐसा हो नहीं रहा है। रचना और रचना कर्म के प्रति उनका विश्लेषक स्वर मंद पड़ जाता है सिर्फ जिन्दाबाद-जिन्दाबाद या मुर्दाबाद-मुर्दाबाद ही सुनायी पड़ता है। फिर भी 'नये-पुराने'को विश्वास है कि स्थिति ऐसी नहीं रहेगी और गीतपरकता दिन-ब-दिन अधिक प्रासंगिक व प्रमाणिक होकर अभिव्यक्ति का मानक बनेगी। 'नये-पुराने' इस ओर प्रयासरत है कि गीतकारों के बीच से ही गीत के समीक्षक भी निकलें जो गीत के समीक्षकर्म को अधिकाधिक प्रमाणिक बना सकें। आज गीत-नवगीत अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम बनता जा रहा है इसलिए उस पर सार्थकता का दबाव भी स्वाभाविक रूप से बढ़ रहा है-इसे गीतकारों को समझना चाहिए।

गीत अंक-1 के 'अथः बोध' खंड में डा0 जगदीश गुप्त ने एक श्लोक-सूत्र बहस के लिए छोड़ा था-'काव्यम् गीतेन हन्यते'-गाने से कविता नष्ट होती है। उस पर नये-पुराने ने साहित्य वाचस्पति डा0 श्रीपाल सिंह क्षेम से चर्चा करने का अनुरोध किया था। डा0 क्षेम जो गीति-काव्य के मर्मज्ञ एवं विद्वान हैं उन्होंने डा0 गुप्त द्वारा छोड़े गए इस उपयोगी श्लोक-सूत्र का एक सिरा पकड़कर गीति-काव्य की शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की है। साथ ही गीत की प्रासंगिकता भी सिद्ध करने का प्रयास किया है।

डा0 विश्वनाथ प्रसाद ने अपने आलेख में श्री ठाकुर प्रसाद सिंह, नईम, देवेन्द्र कुमार आदि के गीतों के माध्यम से लोक संपृक्ति का संदर्भ देकर जातीय अस्मिता को नवगीत की पहचान का जरूरी और सृजनधर्मी मानक माना है।

जहाँ डा0 सत्येन्द्र शर्मा ने नवगीत में आये सूक्ष्म व व्यापक राष्ट्रीय प्रेम के संदर्भों का उल्लेख किया है वहीं यश मालवीय ने आजादी के बाद के गीत की रचनाधर्मिता पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए उसके शिल्प-स्वरूप से संदर्भित आज तक की झाँकी प्रस्तुत की है और नवगीत के सम्बन्ध में अपनी कुछ चिन्ताएँ भी व्यक्त की हैं।

श्री अमरनाथ श्रीवास्तव ने अपने आलेख में स्पष्ट किया है कि छन्द-मुक्त कविता से कहीं अधिक पुरजोर जनचेतना की सम्बद्धता और सामर्थ्य की समायी नवगीत में है।

नये-पुराने गीत अंक-2 (1998)

श्री सुरेन्द्र पाठक ने समकालीन अभिव्यक्ति को अधिक धारदार बनाने के लिए नवगीत की संवेदना और लय में निरंतर आ रहे बदलाव को रेखांकित किया है। वे इस संदर्भ में वर्तलुकार लय की गढ़न के हिमायती हैं और चीजों व स्थितियों को पैनी नजर से देखने परखने के बाद नयी भाषिक संरचना के माध्यम से एक नये तज के साथ अपनी कहन में अधिक तल्खी व ताजगी लाना चाहते हैं।

लोक पक्ष में डा0 विद्या बिन्दु सिंह ने लोकगीतों की वाचिक परंपरा का संदर्भ देकर आज की कविता के विषय में कुछ महत्वपूर्ण सवाल उठाये हैं। लोक काव्य की मर्म स्पर्शी भंगिमाओं से युक्त गहरी व व्यापक अभिव्यक्तियों को सोद्धरण सामने रखकर उन्होंने अपनी राय जाहिर की है कि कविता में साहित्य की तलाश पहले और आधुनिक बोध की बाद में होनी चाहिए।

इस प्रकार प्रस्तुत अंक में गीत-नवगीत के विविध पक्षों की व्यापक पड़ताल करने का प्रयास किया गया है। गीत अंक-3 में गीत-नवगीत का संदर्भ लेकर अधिक वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक सामग्री-संयोजन का प्रयास किया जायेगा। बस आप सबका सार्थक सहयोग मिलना चाहिए।

सम्पर्क-
ग्राम-गौरा रूपई
पो.-लालूमऊ
जनपद-रायबरेली (उ.प्र.)

(नये पुराने गीत अंक-2, सम्पादक-दिनेश सिंह, प्रकाशक-राजेन्द्र राजन, द्वारा-नेहरू युवा केन्द्र, सीतापुर, उ. प्र., मुद्रक-माहेश्वरी एण्ड संस, नाका हिंडोला, लखनऊ, उ.प्र., वर्ष-1998, मूल्य-रु 40/-, प्रष्ठ-270)